

क्या हम बदल गये हैं ?

—डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

साहित्यश्री एम० ए० (स्वर्ण पदक प्राप्त), पी-एच० डी०, डी० लिट०

प्राध्यापक : हिन्दी विभाग : ब्यालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट
(डोम्ड विश्वविद्यालय), ब्यालबाग आगरा

आप सोच रहे होंगे कि शायद यह वाक्य किसी कवि की कविता-पंक्ति है। जनाब, ऐसा नहीं है। यह प्रश्न है मेरे जहन का। जो सायं की टहल के क्षणों में कौंध गया था। कई क्षण इस प्रश्न के आपरेशन में बीत गये। सोच के गलियारों में कई बार चक्कर लगा आया। प्रश्न था कि जो बार-बार खिल-खिलाते हुए व्यवस्था-वातायन से झांक जाता—क्या हम बदल गये हैं ?

प्रश्न सुनकर आपके चेहरे पर नाराजगी की रंगत क्यों आ रही है ? क्या मैंने कोई अनुचित बात कह दी है ? जी नहीं, जनाब ! हमारे रहन-सहन में, वेष-परिवेश में, खाँसने-खखारने में, खाने-पीने में, बोलने-चलने में क्या बदलाव नहीं आया है। सचमुच, हमारी प्रत्येक क्रिया में बदल के बादल छा गये हैं। शायद, हम अकल से ज्यादा अन्धता का भरोसा कर बैठे हैं। आज व्यक्ति का अपने ऊपर से विश्वास जो उठ गया है तभी तो वह बाहरी विश्वास के आकर्षण में लिपटा फँसा है। यह आत्म-विश्वास-हीनता का कारवाँ श्रम, साधना और सृजन से हाथ धो बँठा है। शॉर्ट कट के लिए, छोटे रास्ते के लिए, सुविधा के लिए, जल्दी लक्ष्य पर पहुँचने के लिए, कम प्रयत्न में अधिक पाने के लिए और कम देकर ज्यादा कीमत वसूल करने के लिए आदमी आज का दौड़ रहा है। साधारण के लिए असाधारण को खोया जा रहा है। कितनी अबोधता है कि छोटे रास्ते से जल्दी मंजिल पाने की धुन में व्यक्ति अपने को बरबाद कर रहा है। लोक को उचित चलना सड़क का, चाहे फेर क्यों न हो कितनी सार्थक है। हम सही दिशा में गमन करें, सही राह पर चलें, भले ही वह राह लम्बी हो, ऊबड़-खाबड़ हो, देरी ही क्यों न हो ?

आज व्यक्ति की दिमागी हालत पर विस्मय होता है कि वह अपने पिता पर, पुत्र पर, पत्नी पर, मित्र पर विश्वास ही नहीं करता। वह बाहरी ताकतों पर, चमत्कारों पर भरोसा किया करता है। उसने अपना विश्वास, अपना ज्ञान बलाये ताक पर रख दिया है। वह किसी बहम के वशीभूत संयोग से प्राप्त सफलताओं में मस्त हो रहा है। “जितना करोगे उतना पाओगे” यह मन्त्र उसकी संकीर्ण समझ से उतर गया है। सचमुच वह भटक गया है। आज का समय और व्यक्ति का मानस युद्ध और संघर्ष से क्लान्त और दुष्कर्मों से उन्मन एवं उद्भ्रान्त है। तनाव का तांडव नृत्य चल रहा है। मन उलझनों की भूल-भुलैया में भटक रहा है। जीवन दुःखमय हो रहा है। क्यों न हो ? उसकी निष्ठा चमत्कारों की धार्मिक सट्टेबाजी में रच-रम गई है। हाथों से श्रम की पतवार छूट गई है। सागर की गहराई के क्या

कहने ? उसमें मोती हैं और मौत भी । छलांग लगाइये, देखिये, क्या पाते हैं ? सुख का घाट या फिर मौत के भँवर में फँसते-डूबते हैं । यह सवाल समय का मुँह देख रहा है ।

सोचता हूँ, क्या श्रम के उस सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व की पूर्ण अनुभूति हमें हो सकेगी ? क्या हम इसे छोटी-सी शब्द-आरती से अपनी इतिश्री नहीं समझे हुए हैं ? क्या हम वंचना का वरण किये हुए नहीं हैं ? दूसरों को ही नहीं अपने को भी धोखा दे रहे हैं । लगता है आपको मेरा प्रश्न उलझा हुआ लग रहा है । लीजिए, मैं उसके खोल को हटा देता हूँ । बहुत पहले किसी ने संन्यासी से पूछा था कि “श्रेष्ठ पिता कौन है ?” संन्यासी ने उत्तर दिया था—“वह पिता श्रेष्ठ है जो अपने पुत्र से पराजय की कामना करे । जो चाहे कि मेरा पुत्र मुझसे हर बात में श्रेष्ठ हो, आगे हो ।” जनाब ! आइये, हम अपने पिता से श्रेष्ठ बनें । हमारा जीवन हमारे परिवार को पहले से ऊँचा उठाने वाला हो, हम अपने युग से आगे बढ़ें, हमारा जीवन राष्ट्र को, युग को प्रगति देने वाला हो । हम अपने जीवन का मूल्य आँकें और हम वही सब कुछ करें जिससे हमारी मुलाकात हमारे अभीष्ट से हो जाये । हमारे भाल पर मिरावट की कालिख न पुत-लिप जाय और हम उठें तथा हमारे साथ दूसरे सभी उठ जायें । सचमुच, हमारा जीवन श्रम और आस्था की रोशनी से जगमगा जायेगा ।

एक बार चौराहे पर खड़े व्यक्ति ने सोचा कि मैं किस ओर बढ़ूँ ? एक ओर उपदेश हैं तो दूसरी ओर आचरण । तीसरी ओर प्रचार है तो चौथी ओर मौन समाधि । किस राह पर चला जाये ? वह निर्णय पर नहीं पहुँच पाया । संयोग से दीपक लिए एक अध्यात्मपुरुष का उधर से गुजरना हुआ । उसने व्यक्ति को अंधेरे में भटकते हुए देखा तो अपने जलते दीपक से रोशनी दी—“राही ! उपदेश में गर्व होता है और आचरण में बलिदान । प्रचार में लोकेषणा है और मौन में आत्मोपलब्धि ।” कोरे उपदेश से भला कौन किसे सुधार सकता है ? उसका उपदेश मोह-ममता में जो जकड़ा हुआ है । निःस्वार्थ भाव से प्रदत्त उपदेश में एक सात्विक गौरव है । जनहित में किया गया नैतिक प्रचार लोकेषणा नहीं जीवनैषणा है । जिसको जो रुचे उसी मार्ग पर चल पड़े । बस, मर्यादा की मन्दाकिनी में अवगाहन अवश्य करता रहे ।

व्यक्ति जब व्यक्ति रहता है तब क्रूरता, वध, असहिष्णुता आदि की अभिव्यक्ति नहीं होती । परन्तु जब उसकी इकाई समूह में विलीन हो जाती है, तब दोष उभर आते हैं । जहाँ दो होते हैं, वहीं शत्रुता का भाव उगता-उपजता है और मैत्री की कल्पना भी जन्मती-पनपती है । जहाँ और जब शत्रु-भाव का उत्कर्ष होता है, तब जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है । सर्वत्र, व्यक्ति-व्यक्ति में, कुटुम्ब-कुटुम्ब में, समाज-समाज में, देश-देश में तथा राष्ट्र-राष्ट्र में अराजकता फैल जाती है और अशान्ति की कुहेलिका मंडराने लगती है । जनजीवन जलता है और उसकी आहों से मिश्रित धूप की उर्मियों से सारा वाता-वरण विषमय बन जाता है । मित्रभाव का जब उत्कर्ष होता है, तब अशान्ति की अन्त्येष्टि हो जाती है । सर्वत्र, शान्ति का साम्राज्य छा जाता है । वहाँ प्रत्येक व्यक्ति सुख से जीने लगता है और वह दूसरे के सुख पूर्ण जीवन जीने के अधिकार में कभी हस्तक्षेप नहीं करता है ।

आज शत्रुभाव चरम सीमा पर है । प्रत्यक्ष-परोक्ष परस्पर में सभी शत्रु हैं । इसे मिटाने के लिए मैत्री का दरवाजा खटखटाना होगा । हमें अभय, अनाक्रमण, विश्वास और सहिष्णुता की चार पहियों वाली गाड़ी में बैठना होगा । कहते हैं अभय का आधार निर्मोह है । मोह की न्यूनता अभय को बढ़ाती है और अभय से मोह की न्यूनता होती है । इस परिधि में मैत्री की लता फल-फूल सकती है ।

षष्ठम खण्ड : विविध राष्ट्रीय सन्दर्भों में जैन-परम्परा की परिलब्धियाँ

४५७

जब अपना स्वार्थ दूसरों पर हावी होना चाहता है, तब व्यक्ति तिलमिला उठता है। मित्र भी शत्रु-सा प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आस्था का दीपक जलाना होगा। स्वार्थों और विचारों की विविधता में समानता का सौरभ महक उठेगा। उदारमना सहिष्णु होता है। इसके लिए वह विवश नहीं सहज होता है। अस्तु आक्रमण की बात ही नहीं आती। इस वृत्ति से अभय की पयस्विनी बहने लगती है और जन-जन स्नेह-सिक्त हो जाता है। अभय और अनाक्रमण से विश्वास पनपता है। विश्वास मैत्री का आधार है, पुष्ट पोषक भी। दैहिक कष्टों को सहना शूरवीर जानते हैं किन्तु वैचारिक असमानता को सहने वाले विरले होते हैं। सहना महानता की अनुपम कसौटी है। महात्मा ईशु ने संसार के लिए यह उपदेश दिया कि अपने शत्रु से भी प्यार करो। भगवान महावीर ने कहा कि किसी को अपना शत्रु ही मत समझो। असल में, किसी को शत्रु न मानकर सभी के साथ मित्रता का व्यवहार करना उत्तम है। उपचार होने से पूर्व रोग न होने देना अच्छा है।

मतभेद विचारों का हो या फिर आचार-विचार में मनमुटाव। वह पति-पत्नी में हो, पड़ोसी-पड़ोसी में हो, जाति-जाति में हो, धर्म-धर्म में हो या राज्य-राज्य में हो, यदि उसमें सहिष्णुता, समन्वय और सामंजस्य का तालमेल बैठ गया है तो क्या कहने? जनाब! आप सोच की खिड़की तो खोलिए। 'ताल' और 'मेल' शब्दों की गहराई में उतरिए। सचमुच, अपने विश्वास पर दृढ़, मजबूत रहते हुए भी दूसरे के विश्वास का आदर करके तो देखिए कि फिर हमारा जीवन आनन्द की वर्षा से भीग जाएगा।

(शेष पृष्ठ ४४८ का)

अनेक पहलू पर विचार करने और अन्ततः निचोड़ में अधिक हित की विद्यमानता का सार्वबोध कराता है।

आज के इस विषम वातावरण में अनेकान्तवाद की अहं आवश्यकता है। यद्यपि आज का व्यक्ति प्रगतिशील है किन्तु उसकी यह प्रगति केवल भौतिक सुख-साधनों में होने वाली वृद्धि तक ही सीमित है। आज आम आदमी सम्पन्नता को शायद प्रगति का प्रतीक मान बैठा है। पर यथार्थ उससे भी ऊपर उठा हुआ सत्य है कि 'प्रगति' केवल बाह्य सुख-साधनों का संचय करना ही नहीं है अपितु आन्तरिक आत्म-प्रदेश में भी जागृति लाना है। केवल लड़-लड़कर अपने अस्तित्व की परिधि को समाप्त करना निरी-नादानी नहीं तो और क्या है? हम किसी तथ्य के एक पहलू को ही ठीक और केवल ठीक मानकर अहम् के उच्च शिखर तक पहुँच गये हैं। कब टूटकर गिर जायें, इसका ज्ञान तो शायद हमें नहीं है पर अपने ही ढोल की आवाज को व्यापक और सघन मान बैठना तो अपनी ही भूल होगी न! अनेकान्त, अन्यो के विचारों को सुनने, समझने तथा उपयुक्तता की तह तक पहुँचने का मार्ग सुझाता है। तब व्यक्ति खण्ड-खण्ड नहीं अपितु अखण्डित होने की ओर उन्मुख होने लगता है। अतः यदि विवाद और हिंसा जैसी समस्या सुलझाना है तो हमें निश्चित ही अनेकान्तवाद की शरण में जाना होगा। शायद वही अभीष्ट भी होगा।